आज शाम है बहुत उदास

अंजू शर्मा

आज शाम है बहुत उदास

लोहामंडी... कृषि कुंज... इंदरपुरी... टोडापुर... ठक ठक ठक... खटारा ब्लू लाइन के कंडक्टर ने खिड़की से एक हाथ बाहर निकाल बस के टीन को पीटते हुए जोर से गला फाड़कर आवाज लगाई, मानो सवारियों के घर-दफ्तरों तक से उन्हें खींच लाने का मंसूबा हो। उस ठक-ठक में आस्था अक्सर टीन का रुदन सुना करती थी, उस दिन भी सुना। जिस बेरहमी से उसे पीटा जाता था, आस्था को उसका रुदन एक वाजिब हरकत जान पड़ती थी। इस तरह बस की बॉडी को पीटने से डिस्टर्ब हुए एक यात्री ने एक भद्दी-सी गली खिड़की से बाहर फेकी और फिर से ऊँघने का प्रयत्न करने लगा और कुछ मिनट के बाद बस चल पड़ी। 853 नंबर रूट की यह बस इस समय पायल सिनेमा

से लोहामंडी की ओर बढ़ रही थी। यह वह दौर था जब दिल्ली में मेट्रो की आहट तो छोड़िए, किसी के ख्वाब-ख्वाब में भी भविष्य में इसकी आमद का कोई विचार जन्म तक नहीं ले पाया था। दिल्ली में सड़कों पर दौड़ती बसें, कारें, ऑटो और उनमें भरी बेतहाशा भीड़ रेड-लाइट आते ही सहम जाती थी। रेड लाइट पर ये अंतहीन जाम तब भी जीवन का हिस्सा था पर उससे कोई निजात दूर-दूर तक नजर नहीं आती थी और न ही कामकाजी लड़कियों के लिए मेट्रो जैसा संकटमोचक उस जाम से बचकर वक्त पर घर पहुँच जाने का सपना दिखाता था। फ्लाई ओवरों का यह जाल अपने शुरुआती दौर में नन्हें शिशु की भाँति सबमें उम्मीद जरूर जगा रहा था पर उस उम्मीद को पंख लगना अभी बाकी था।

उत्तम नगर से शुरू होकर चलने वाली बस ठसाठस भरी हुई थी क्योंकि यह ऑफिस टाइम था। उस भीड़ से भी ड्राईवर और कंडक्टर की टीम को संतोष नहीं था। टीम इसलिए कि बस में कंडक्टर के साथ 1-2 सहायक भी थे जो आगे पीछे बिखरे हुए थे। 17 से 25 साल तक के इन सब लड़कों की टीम का एक ही अजेंडा था किसी तरह पीछे आ रही एक अन्य इसी नंबर और रूट की बस के आने से पहले ज्यादा से ज्यादा सवारियाँ बस में भर लेना। इस पूरी कवायद में वे सफल भी रहे क्योंकि बस की स्थिति उस तकिए जैसी हो गई थी जिसमें जरूरत से ज्यादा रूई भर दी गई हो। बस पिछले कई सालों में इतना चल चुकी थी उसमें तेज हॉर्न की आवाज के साथ-साथ लगभग हर हिस्से से आवाज आती थी। बॉडी में यहाँ-वहाँ से उखड़ी टीन की परतें उसे और भी कुरूप बना रहे थे। वैसे बस मालिकों के लिए ऐसी पुरानी बसें उस दुधारू गाय की तरह होती थी जो बुढ़ापे में भी लगातार दुहे जाने को अभिशप्त थी जब तक उसमें दूध की एक बूँद भी बाकी हो। सच तो यह था कि जब मन चाहे, अड़ियल घोड़े-सी अड़कर, आगे जाने से इनकार कर देने वाली इन बसों में बैठना जोखिम का काम था पर डेली सवारियों के आगे और कोई चारा भी तो नहीं था। शाम के उस धुंधलके के घिरते ही घर वह जन्नत हो जाता है कि दिन भर की थकान से झुके कंधों का बोझ ढोते लोग, उसके आगोश में छुप जाने की तमन्ना में चुंबक की तरह चले जाते हैं, तब ऐसे में खटारा, दम-तोड़ती 'किलर' बसें भी बेहद अपनी सी लगा करती थी।

यह नवंबर 1994 की एक गहराती शाम थी। पूरे दिन अपनी रोशनी और गर्माहट से धरती को नवाजता सूरज अब थककर डूबने का मंसूबा बाँध चुका था और धीरे-धीरे क्षितिज पर लाली फैल कर दिवस के अवसान की घोषणा कर रही थी। पिछले कई दिनों से दिवाली की आपाधापी के कारण रोज देर हो जाती थी। फैक्टरी के कामगारों की सैलरी, दिवाली का बोनस और एडवांस सब एक साथ निपटाने में पूरा स्टाफ बिजी

था। ऑफिस में सब कुछ अभी हाल ही में कंप्यूटराइज्ड होने का खामियाजा आस्था को भुगतना पड़ रहा था। तकनीक का जन्म मनुष्य का जीवन आसान करने के लिए हुआ वही तकनीक का दामन थामना कभी-कभी मुसीबत का सबब बन जाता है। यूँ भी उन दिनों उसके ऑफिस में कंप्यूटर एक अजूबा था और पूरे ऑफिस में वह अकेली कंप्यूटर ऑपरेट करने में सक्षम थी तो लिहाजा उसके पास काम जैसे द्रौपदी का अक्षय-पात्र बन गया था, कभी खत्म ही नहीं होता था। कई दिन से लेट हो रही थी तो जल्दी घर पहुँचने के लिए ऑटो लेना पड़ता था। घड़ी में समय देखा, बमुश्किल आज समय पर ऑफिस से निकल पाई थी। हैरत थी कि पार करते समय सड़क भी खाली मिली और उसकी नजरें उस पार से आने वाली बसों पर जमी थी और कोई एक मिनट बाद वह बस स्टैंड पर थी।

बस में चढ़ते ही रोज की तरह उसने खाली सीट तलाशनी चाही पर कही कोई सीट खाली नहीं थी। वह बस की नियमित सवारी थी और यह कंडक्टर लड़का उसे सीट दिलाने के लिए कुछ ज्यादा ही इच्छुक रहा करता था। उस रोज भी वह उसे देखकर खड़ा हो गया और अनकहे ही अपनी सीट उसने आस्था के लिए छोड़ दी। वह रोज इसी बस में आती थी और जानती थी कि अब पीछे आ रही बस को सँभालने के लिए उस लड़के ने कमर कस ली है, तो उसे सीट की जरूरत नहीं है, ऐसे में आस्था पर सीट कुर्बान करने का मौका वह नहीं छोड़ने वाला था।

उस दिल घबरा देने वाली भीड़ और ठसाठस भरी बस में चढ़ते ही सीट मिलना सुखद लगा। मन ही मन कंडक्टर लड़के को धन्यवाद देते और उस पर एक आभार भरी मुस्कान फेंकने के बाद उसने जल्दी से सीट पर काबिज होना उचित समझा, क्योंकि एक अनार और सौ बीमार वाली कहावत यहाँ इतनी सटीक बैठती थी कि उसे डर था कि कोई अगल-बगल से निकलकर सीट पर कब्जा कर उसे उस भीड़ में धक्के खाने के लिए न छोड़ दे।

बस चलने के साथ ही ठंडी हवा के एक झोंके ने उसे छुआ और अनायास ही उसे अनिकेत की याद आ गई। एक हल्की सी मुस्कान चोरी-छुपे उसके होंठों पर तैर गई, जिसे उसने आस-पास देखते हुए बड़ी आसानी से चेहरे पर झूल गई एक लट को ठीक करते हुए छिपा लिया। इन मेहनतकश, बोर रूटीन वाले दिनों और इस भीड़भरी बस में अनिकेत के ख्याल ने उसे ताजादम कर दिया था।

"उफ्फ ये भीड़, यू नो अनिकेत, तुम्हारी बाहें दुनिया की सबसे महफूज जगह है, इनमें छुपकर खो जाने को जी चाहता है..." वह धीमे से उसके कान में फुसफुसाती।

"एंड यू डोंट नो आस्था, तुम्हारी आँखें सबसे खतरनाक, इनमें डूबकर जीने नहीं मर जाने को दिल चाहता है...।"

वह उसे छेड़ते हुए उसकी ओर झुकता...

"हाहाहा, यू नॉटी... स्टॉप देयर"

और वह उसे रोककर, झूठ-मूठ गुस्सा होते हुए, लोगों की ओर इशारा करती, ऑखें दिखाती।

अनिकेत उसका मंगेतर था। उन दोनों का विवाह तय हो चुका था और इसके लिए उन्होंने लंबी प्रतीक्षा की थी। प्रेम के विवाह में बदलने की प्रतीक्षा के पलों को काटने के लिए वे अक्सर मिला करते थे। हफ्ते में दो-तीन बार अनिकेत को उसके ऑफिस के समीप ही ऑडिटिंग के लिए आना होता था। कई बार अनिकेत उसे वही बस-स्टॉप पर इंतजार करता मिलता और दोनों साथ-साथ घर लौटते, वहाँ तक जहाँ से दोनों के रास्ते अलग हो जाते, वे लम्हा-लम्हा एक दूसरे से अपने दिन भर के अनुभव बाँटकर एक-दूसरे के सान्निध्य को महसूसते। लेकिन आस्था की व्यस्तता के कारण पिछले दस दिनों से उनकी मुलाकात नहीं हुई थी।

मौसम में हल्की सी सर्दी घुलने लगी थी और अनिकेत के ख्याल ने उसे एक गर्माहट भरे एहसास के साथ अपने आगोश में ले लिया। वह बड़ी शिद्दत से उसके साथ को मिस कर रही थी। जाने क्यों उसे लगा कि एक मुकाम, एक मंजिल तय हो जाने के बाद प्रतीक्षा जानलेवा हो जाती है। कही पढ़ा हुआ याद आने लगा कि समय उनके लिए सबसे धीमी गति से चलता है जो इंतजार में होते हैं। उफ्फ, ये इंतजार, अनिकेत यहाँ होता तो उससे कहती, मेरी ऑखें नहीं इंतजार में होना, दुनिया में सबसे खतरनाक है। प्रतीक्षा का एक नया दौर शुरू हो चुका था, अब वह सर को धीमे से झटकते हुए इस ख्याल से दूर जाने का इंतजार करने लगी।

बैठने के बाद उसने पाया कि साथवाली सीट पर खिड़की के पास एक कद्दावर बुजुर्ग सरदारजी पहले से बैठे हुए थे। अक्सर उस लंबे सफर में वह अपने बैग में कुछ किताबें या पत्रिकाएँ साथ रखा करती थी। अगर वह संभव न हो तो चुपचाप खिड़की से बाहर पीछे की छूटते पेड़ों, इमारतों और बस स्टॉप पर खड़े लोगों को देखने में अपना वक्त खर्च किया करती थी। उस दिन ऐसी कोई गुंजाइश नहीं थी क्योंकि वह खिड़की के पास नहीं बैठी थी। सिखों को लेकर मन के किसी कोने में एक विचित्र-से अपनेपन का अहसास, एक सॉफ्ट कोर्नर आस्था हमेशा से महसूस करती आई थी, इसका राज

उसकी परवरिश और परिवेश से जुड़ी माजी की यादों में कैद था। अचानक 'राजी' की याद धीमे-धीमे हवा की नमी में घुलते हुए उसे सहलाने लगी। राजी यानि रंजीत कौर, उसके बचपन की सबसे प्यारी दोस्त, अब उससे दूर, कही बहुत दूर थी। राजी की याद अकेले नहीं आती थी, जब आती थी तो अपने साथ जाने कितनी खटटी-मीठी यादों को भी लाती थी। कही कुछ था उनसे यादों से जुड़ा कि आस्था एकाएक असहज हो जाती और यादें धीरे-धीरे एक भयावह अतीत के एक काले एपिसोड में बदल जाती।

स्मृतियों के पुल का दूसरा सिरा खो चुका था और उस होकर गुजरने वाले लम्हे बेमकसद यूँ ही हवा में लहराते एक भयावह कोलाज बना रहे थे। दंगाई... किरपाण... चीखें... जलते टायर... बिखरी हुई चीजें, जली हुई लाशें और कई जागती रातें। वे रातें जो राजी को उससे हमेशा के लिए जुदा कर अपने साथ ले गई, कभी न लौटने देने के लिए। उस सुहाने मौसम में भी एकाएक कनपटियों पर पसीने की कुछ बूँदे चू आई। एक सिहरन उसकी रीढ़ की हड्डी से उतरती हुई उसके पूरे वजूद को हिला गई। अजीब सी बेचैनी महसूस हुई तो उसने बैग से अपना रूमाल निकाला और यूँ ही बेमकसद सामने की सीट की ओर देखने लगी।

उसके ठीक सामने वाली सीट पर एक महिला अपनी बेटी के साथ बैठी थी। बार-बार सीट पर गिरते उस शराबी शोहदे से बचाकर बेटी को तो खिड़की के पास बैठा दिया था, जो गाड़ी में चलते एक चलताऊ गाने पर झूम रहा था और खुद सिमटते हुए, बार-बार बेचैनी से पहलू बदल रही थी। अपने पौरुषीय प्रतीक को बार-बार उसके कंधे पर चस्पा करते उस इनसान रूपी जानवर को देखकर, आस्था दिल चाहा जोर से झापड़ रसीद कर उसे बस से नीचे धकेल दे कि तभी कुछ लोग सरक कर बीच में आकर खड़े हो गए और उसका खौलता खून भी आदतन शांत होने लगा। यूँ भी ऐसे दृश्य बस में आम थे, बसों में भीड़ के साथ ऐसे लोगों को भी झेलना महिलाओं का नसीब था। बस तेजी से मंतव्य की ओर दौड़ रही थी। यह कंडक्टर के लिए रिजर्व सीट थी और बस में सबसे आगे थी। इसके ठीक बाद उतरने का दरवाजा था और उसे बाद एक खुला केबिन जिसमें ड्राईवर के साथ बैठे लोग जोर से कहकहे लगा रहे थे, 'चक्कर अच्छा गया था' और साथ वाली बस काफी पीछे छूट चुकी थी। अमूमन इस दौर में सड़कों पर खासकर इस रूट पर ब्लू लाइन और रेड लाइन बसों का राज था। हालाँकि कुछ डीटीसी की बसें भी खानापूर्ति करती नजर आ जाया करती थी।

उत्तमनगर से बनकर चली यह बस और इस रूट की तमाम बसें मायापुरी और नारायणा जैसे इंडस्ट्रियल एरिया से गुजरते हुए उन तमाम कामगारों के लिए वरदान साबित होती थी जो साइकिल से एक कदम आगे बढ़कर बस की सवारी अफोर्ड कर

सकते थे। वही इंदरपुरी से लेकर पूसा, रजिंदर प्लेस से लेकर देव नगर (खालसा कॉलेज) तक यह ऑफिस में काम करने वाली सवारियों का भी बड़ा सहारा थी जो अपने कपड़ों की क्रीज सँभालते हुए रोजी-रोटी कमाने इस विशालकाय मानवीय समुद्र में खो जाने के लिए रोज घर से निकलते थे।

बस इस समय लोहा मंडी से आगे कृषि-कुंज पहुँचने ही वाली थी कि अचानक जोर से ब्रेक लगा और बस में चीखपुकार मच गई। वह ऐसे 'झटकों' की अभ्यस्त थी और खुद को सँभाल गई पर सरदार जी के साथ कही कुछ हुआ था जिस पर उसका ध्यान ही नहीं गया। हुआ यूँ कि ड्राईवर, कंडक्टर टीम की सारी आशंकाओं को सच साबित करते हुए पीछे आ रही इसी नंबर की दूसरी 'ब्लू लाइन' एकाएक इसे ओवर टेक करते हुए स्टैंड पर इसके ठीक आगे खड़ी हो गई, लिहाजा उसके इस अप्रत्याशित कदम से इस बस के ड्राईवर को एकाएक ब्रेक लगाने पड़े। नतीजन बस को तेज झटका लगा और कितनी ही सवारियाँ आगे की ओर गिर पड़ीं। हालाँकि यह पहली सीट थी पर आस्था जैसी नियमित सवारियों के लिए यह बेहद मामूली बात थी तो वे सँभल भी गए। झटके से सँभलकर उसने देखा, साथ बैठे सरदार जी के सिर से खून बह रहा है। असल में जब बस जोर से रुकी तो वे खुद को सँभाल नहीं पाए और उनका सिर आगे डंडे से जा टकराया। उस खटारा बस में जगह से बस की बॉडी में निकले हुए लोहे के किसी पतरे से उनके सिर के टकराने पर माथे पर 'कट' पड़ा और खून बह निकला। उसने जोर से कंडक्टर को पुकारा और 'फर्स्ट एड बॉक्स' लाने को कहा। और कुछ पास न होने पर उसने अपने रूमाल को उनके माथे से लगा दिया।

शायद सिर टकराने से उन्हें हल्की मूर्छा भी आ गई थी। यह सब बस कुछ सेकंडों में ही घटित हुआ और धीरे-धीरे वे होश में आने लगे। आस्था खड़ी हो गई थी और एक हाथ उनके कंधे पर रखे हुए, दूसरे से उनके सिर पर रूमाल लगाए हुए थी। उनकी आँखें खुली कुछ ही क्षणों में वे सारा माजरा समझ गए थे। अनुभव बिना पूछे ही सिलसिलेवार रहस्य की सारी परते खोल देता है। सारी सवारियाँ अपनी-अपनी राय देने लगी और कंडक्टर फर्स्ट एड बॉक्स ढूँढ़ने का अभिनय कर रहा था। हालाँकि वह जानती थी कही कोई फर्स्ट एड बॉक्स होता तो उसके हाथ में सौंप दिया जाता। उसने एक हाथ से जल्दी से अपने बैग से छोटी पानी की बोतल निकाली और बेहद तेजी से उस रूमाल को खिड़की से बाहर धोकर, गीला कर उसे पलट कर फिर से उनके माथे पर लगा दिया। खून अब शायद रुक गया था और अचानक उस तक एक एंटी सेप्टिक क्रीम पहुँचाई गई जो पता नहीं कंडक्टर ने दी थी या किसी सवारी के बैग से निकली थी। थोड़ी क्रीम सरदार जी के माथे से लगाते हुए उसने चैन की साँस ली। खून सचमुच

बंद हो गया था। सरदार जी ने स्नेह से उसके सिर पर हाथ रखते हुए बैठने का इशारा किया। उनके भारी-भरकम हाथ ने अनायास उसे घर से कुछ दूर खड़े विशाल, बूढ़े बरगद की याद दिला दी थी, जिसके साए में खेलते हुए वह हमेशा खुद को महफूज महसूस करती थी। एक अजीब से अहसास ने उसे घेर लिया था। जीवन में पिता का मौजूद होना शायद ऐसे ही बरगद की छाँव में होने जैसा सुख देता होगा, वह सोच रही थी। उनके इस इशारे का तात्पर्य था कि वे ठीक महसूस कर रहे थे और अब वह वापस अपनी सीट पर बैठ सकती थी।

उसने एक भरपूर नजर सरदार जी पर डाली तो पाया करीब वे 70-75 साल की आयु के मजबूत कदकाठी के बुजुर्ग थे। ठीक उसके दादा जी के उम्र के, करीब छ्ह फुट का कद, जो शायद अपने समय में बहुत शानदार लगता होगा। चौड़े कंधे, जो अब कुछ झुके हुए प्रतीत होते थे और बड़ी-बड़ी लाल आँखें थी। वृक्ष के वलयों से यदि उसकी आयु का पता चलता है तो चेहरे पर पड़ी हर झुर्री भी उम्र और अनुभव के सारे राज आपके सामने रख देती है। हल्के क्रीम कलर का पठानी सूट और हल्के पीले रंग की पगड़ी पहने हुए वे बहुत आकर्षक व्यक्तित्व के मालिक नजर आते थे। उनका चेहरा खुशमिजाज था और चेहरे पर अब हल्की सी मुस्कान थी किंतु बड़ी-बड़ी उदास ऑखें एक अजीब सा खालीपन लिए विरोधाभास उत्पन्न करती थी, यह विरोधाभास हौले से उसे कचोट गया।

बस अब राजेंद्र प्लेस पहुँचने वाली थी। तभी उसे अपनी बगल की सीट से एक रोबदार आवाज सुनाई दी -

"तै कित्थे जाणा, कुड़े...? पंजाब में लड़की को कुड़ी या कुड़े कहा जाता है। ठेठ पंजाब में बोली जाने वाली पंजाबी में वे पूछ रहे थे, उसे कहाँ जाना है।

वह थोड़ी पंजाबी जानती थी, उसने जवाब दिया, "जी, मैं ते एत्थे ही थोड़ा अग्गे, देव नगर उतरना ए।"

इससे पहले वह बात करते हुए हिचकिचा रही पर देर से कुछ शब्द उसके जेहन को मथ रहे थे और बाहर आने को बेकाबू थे। जाने क्यों उनके सवाल ने उसे हौंसला दिया और किसी संबोधन की तलाश में खोने से पहले ही वह कह बैठी, "त्वानू टिटनेस दा इंजेक्शन लवाना जरूरी है। तुसी एस उमर विच कल्ले आया-जाया न करो।"

सरदार जी ने उसकी ओर देखा, कुछ पल वे यूँ ही देखते हुए कुछ कहने का प्रयास करते रहे। एकाएक उनकी उदास लाल आँखें डबडबा आई और रुँधे गले से बमुश्किल कुछ

शब्द रेंगकर आस्था तक पहुँच पाए, "पुत्तरजी, कोई नई है नाल आन-जाण वाला। चौरासी विच... बेटे... पोते... सब..." इसके बाद उन्होंने आँसुओं से भरा चेहरा खिड़की की ओर घुमा दिया और उसकी आँखें भी कुछ क्षण कुछ देखने में असमर्थ हो गई। वह जानती थी उन डबडबाई आँखों में यादों के कितने ही मंजर एक-एक डूब रहे होंगे। अपने आँसू पूछते हुए उसने उनके कंधे पर अपना हाथ रख दिया। इसके बाद के कुछ पलों में वे दोनों कुछ कहने-सुनने की स्थिति में नहीं थे और मन ही मन अपने-अपने घावों को सहलाते रहे। उन्हें अपनी गिरफ्त में लिए हुए, दर्द का एक लावा सा बहता रहा और कुछ देर वे उसमें बहते रहने के अतिरिक्त कुछ न कर सके।

ओह, चौरासी यानि साल चौरासी यानि उन्नीस सौ चौरासी मानो ऐसी ट्रेन बन गया था जो आज फिर, सालों बाद उसकी स्मृतियों में से होकर धड़ाधड़ पटरी बनाते हुए गुजरने लगा और इस अंतहीन यात्रा में वह एक ऐसा मुसाफिर थी जिसे हाथ-पाँव बाँध कर उस ट्रेन में बैठने को अभिशप्त किया गया था। जिसके पहिए भी उसकी ही अंतरात्मा को रौंदते हुए उसके चिथड़े उड़ाते हुए लगातार चले जा रहे थे। अब वह ही सवार, वह ही पटरी और वह ही सफर थी, एक दर्दीला सफर जिसके रास्ते में आने वाले स्टेशन भी असहाय से बस बुत बने उसे चलते हुए देखने को विवश थे। उसके कल में छुपी थी अतीत की तमाम कड़वी यादें जिनसे छुटकारा पाने के प्रयास विफल रहे थे।

आज चौरासी का खौफनाक प्रेत, वक्त की बोतल से निकल कर एक बार फिर उसकी सोच पर वेताल की तरह सवार हो गया था। नहीं जानती थी, जाने अब कितने घंटे, कितने दिन और कितने साल और उसे इसे ढोते रहना था। देव नगर आने वाला था, बस अब काफी खाली हो गई थी। उसने सरदार जी की ओर देखा, सांत्वना का एक लम्हा, सफर कर इन आँखों से उन आँखों तक पहुँचा। उन लाल आँखों ने उसे आश्वस्त करने वाली एक नजर से देखा और अनबोले ही उसने उनसे विदा ले ली। बस रुकने पर चुपचाप रेड लाइट पर नीचे-उतर कर अगली बस पकड़ने के लिए बस स्टैंड की ओर पैदल चल पड़ी। एक अनजाने, अदृश्य बोझ से उसके कदम बोझिल हो चुके थे, मानो एक-एक पैर कई मन का हो गया था और अचानक उसे लगने लगा, जैसे वह खुद को ढोते हुए चल रही है। लगभग घिसटते हुए वह सड़क पर भीड़ के एक रेले में समा गई थी हालाँकि वह जानती थी दो लाल आँखें और एक उदास शाम अब भी उसका पीछा कर रही थी। भगवतीचरण वर्मा की पंक्तियाँ अब किताब से निकलकर उसके जेहन पर काबिज हो रही थी।

'जीवन रेंग रहा है लेकर

सौ-सौ संशय, सौ-सौ त्रास,

और डूबती हुई अमा में

आज शाम है बहुत उदास।'